दिल्ली हमेशा दूर

अजीतकुमार

दिल्ली हमेशा दूर

अजितकुमार

अभय-साधना

और

अमरेन्द्र-पूनम

को

सस्नेह समर्पित

प्रस्तावना

इस किताब में एकत्र लेखों को 'ललित निबन्ध' के सामान्य वर्ग में रख देना अधिक सुविधापूर्ण होता लेकिन जब नज़र आया कि इनमें 'लालित्य' की मात्रा कुछ कम और 'विगलन' की कुछ अधिक है; साथ ही निबन्ध के 'रचाव' की तुलना में जोर ब्योरे के 'बिखराव' पर दिया गया है, तो ललित लेखन की एक उपश्रेणी 'विगललित गद्य' बनाना उसी तरह उपयोगी जान पड़ा, जिस तरह एक समय मुझे रोज़नामचे या डायरी से 'अंकन' को अलगाना ज़रूरी मालूम हुआ था। लेकिन इसमें तुरन्त यह जोड़ना उचित होगा कि इन्हें 'गद्य विविधा' या 'स्फुट गद्य' बताते हुए भी वह उलझन मन में अटकी हुई है जिसे मेरे एक प्रिय कवि ने इन शब्दों में व्यक्त किया है- 'जिधर जाय दुनिया, उधर यदि मन नहीं जाय ?'

हिन्दी में ललित निबन्ध इस कारण भी विधा के रूप में समृद्ध हुआ कि बहुत-सा वह गद्य उसमें आ मिला जिसे किसी अन्य खत्ते में डाला जाना व्यावहारिक न था। सम्भवत:, उसका श्रेणी-विभाजन अब होना चाहिए। 'विगलित' और 'ललित' को मिलाकर बने 'विगललित' की तरह 'विद्वत्तापूर्ण' और 'ललित' को मिलाकर 'विद्वल्ललित' जैसी कोटियाँ कदाचित निरूपित हो सकें क्योंकि तथाकथित 'पर्सनल एस्से' के लिए 'ललित निबन्ध' पद रूढ़ भले हो चुका हो, विविधवर्णी रचनाओं के लिए उसी तरह अपर्याप्त है, जिस तरह सभी 'आत्मकथ्य' अकेले 'संस्मरण' में सहेजे नहीं जा सकते। इसी तरह, मुमकिन है काफ़ी-कुछ पद्याभासी गूढ़ रचना भी कभी कविता की बिरादरी से अलगाई जाकर गरिष्ठ-बलिष्ठ निबन्ध अथवा किसी अन्य विधा के अन्तर्गत रखी जाने लगे। साहित्यिक विधाओं के बीच टूट-फूट और पुनर्गठन के सिलसिले चलते आए हैं; असहमति हुई है, विवाद छिड़े हैं; सीमाएँ बाँधी गई हैं तो उन्हें तोड़ने का क्रम भी थमा नहीं। श्रृंखलित उपन्यास से लेकर लघुकथा तक के विस्तृत फलक को शास्त्र की परिधि में लाने और परे ले जाने की कश-म-कश से तो सभी परिचित हैं; यह भी छिपा नहीं है कि 'महाकाव्य' की भाँति प्रसिद्ध एक कृति को 'खंडकाव्य' कहने में भी आचार्य शुक्ल को संकोच हुआ था।

निवेदन केवल यह है कि सर्जनात्मक और वैचारिक उथलपुथल से भरे इस वक़्त में न तो पूर्वपरिचित साहित्यिक सरणियाँ ज्यों-की-त्यों अपनाई जा सकती हैं, न 'कूड़े के ढेर पर बाँग देनेवाला हर मुर्गा' सिद्ध समझ लिया जाएगा। अध्यापक पूर्णसिंह के इस निरीक्षण के आलोक में अधिकारी शास्त्रज्ञ जब साहित्य-विधाओं का सम्यक् विवेचन करेंगे तो सम्भव है 'अंकन' या 'विगललित' – 'विद्गल्ललित' जैसे पद भी उनका ध्यान आकर्षित करें। स्थापन, विस्थापन, नियोजन, पुनर्नियोजन का सुख साहित्य- रसिक ही जान सकते हैं; इस कोठरी का धान उस कोठरी में धरनेवाले सत्तारे बनिये नहीं।

166 वैशाली, पीतमपुरा **अजितकुमार**

दिल्ली- 110034

पुनश्च :

पूरी पुस्तक छप चुकने पर मिली सूचना के अनुसार निराला जी द्वारा नोटबुक में दर्ज बँगला कविताओं (देखें-पृष्ठ 124 - 125) में से एक 'तोमार रागिनी जीबनो-कुंज बाजो' तो निश्चय ही रवीन्द्रनाथ की है, जिससे अनुमान लगाया जा सकता है कि शेष भी उन्हीं की होंगी।

अ. कु.

अनुक्रम

1.साहित्य के सुख-दु:ख, कष्ट-संकट	7
2.केंद्र में होना	11
3.ए के हैं अर्थात ये कौन हैं ?	19
4.अब दिल्ली दूर नहीं	26
5.एक सफ़ाई	43
6.कविता में वसंत	53
7.अकेली राह	56
8.और तुम भी क्या!	60
9.दाल- भात में मूसलचन्द	63
10.मेरे तेरे नाते अनेक	66
11.क्या करूँ !	72
12.एक क़दम आगे...दो क़दम पीछे	77
13.आकाश का संगीत	84
14.चाँदनी रात	88
15.सुराही और सितारे	91
16.मेरे घर के सामने	94
17.बक रहा हूँ...	97
18.और भी ग़म हैं....	100

19.पाठकों की अदालत में : गीतकार 103

20.मेरी दृष्टि में स्त्री 108

21.उम्मीद पर क़ायम 110

22.वसन्त के अग्रदूत और बिदाकर्ता : निराला 114

23.श्रीमती तेजी बच्चन होने का अर्थ 124

24.दिल्ली हमेशा दूर 136

साहित्य के सुख-दुःख, कष्ट-संकट

सामान्य पाठक या श्रोता के लिए जहाँ साहित्य आज भी उतने ही सुख का स्रोत बना हुआ है, जितना वह कभी भी रहा होगा, यहाँ तक कि दुःख और त्रासदी का चितेरा लेखन भी पाठक पर-तात्कालिक क्षोभ और व्याकुलता के बाद- अन्ततः एक तरह का सुखात्मक या रसात्मक प्रभाव ही डालता है; वहीं हमें ज्ञात है कि मध्ययुगीन गोस्वामी तुलसीदास पर साहित्यिक माँग और पूर्ति के बाहरी दबाव न थे। वे 'स्वान्तः सुखाय' रघुनाथ गाथा लिख सकते थे जबकि आधुनिक लेखक स्वीकार करने को विवश हुआ कि 'मैं गीत बेचता हूँ जी हाँ, हुजूर, मैं गीत बेचता हूँ।'

इसी तरह, उधर के भवभूति के लिए विश्वास करना संभव था कि 'काल निरवधि है और पृथ्वी विपुल, मेरा कोई-न-कोई समानधर्मा अवश्य उत्पन्न होगा-जबकि इधर के अजितकुमार कदापि नहीं जानते- उनके लिखे हुए को कब, कौन कितना पूछेगा। गौरतलब है कि साहित्य के सुख-संतोष ज्यादातर मिट चले हैं, उसके कष्ट-संकट दिनोंदिन बढ़ते गए हैं।

प्रसिद्ध छायावादोत्तर कवि स्वर्गीय श्री नरेन्द्र शर्मा बताया करते थे कि नये-नये मुसलमान हुए एक जमींदार द्वारा निर्मित मस्जिद से जब मुल्ला ने अज़ान दी तो वे बहुत झल्लाए-'सुबह-सुबह कौन अल्लाय रहा है ?' फिर पता चलने पर बोले- 'भगाओ सारे का! हम अपने सऊख के वास्ते मस्जिद बनवाया है, ठेलुअन के लिए नहीं।' आज हम भलीभाँति जानते हैं कि मंदिर, मस्जिद, गुरूद्वारे या स्कूल-कॉलेज-औषधालय सिर्फ़ 'शौक़ ' के लिए नहीं खड़े किए जाते, आमतौर से वे बाज़ार-तंत्र के बुनियादी हिस्से होते हैं।

यही नहीं, साहित्य से साहित्यकार को यदि थोड़ी देर के लिए अलगाया जा सके तो हम पाएँगे कि 'उसकी कमीज़ मेरी कमीज़ से ज्यादा सफ़ेद कैसे ?' की बेचैनी साहित्यकार को भी उसके मूल धर्म से